

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अस्मितावादी राजनीतिक चिंतन और साहित्य

सारांश

आज का दौर अनेक जन समूहों, कबीलों, बाहर से आए-गए लोगों की आकांक्षाओं, धर्म और राजनीति के आघातों से देश कालीन सन्दर्भों में स्वतः निर्मित विशाल बहुरंगी भारतीय समाज में अस्मिताओं की पहचान का दौर है। साथ ही विशिष्ट अस्मिताओं को रेखांकित कर उनके सामाजिक-आर्थिक विकास के अनसुलझे प्रश्नों से दो-चार होने का है। समकालीन परिदृश्य में आजादी के बाद दलित, आदिवासी और स्त्री अस्मिता सम्बंधित चिंतन अपने तीखे प्रश्नों के साथ सामाजिक-राजनीतिक चिंतन के सम्मुख उठ खड़ा हुआ है। लोकतान्त्रिक राजनीति, संख्या बल का कमाल है, इसलिए भारतीय समाज का यह बड़ा तबका राजनीतिक गलियारों में सर्वाधिक मुखर होकर उभरा है। राजनीति से अभिप्रायः राज्य की नीति से है इसीलिए ये अस्मितावादी विमर्श इस राजनीति में अपनी हिस्सेदारी और सहभागिता अपने संख्या बल के माध्यम से सुनिश्चित करना चाहते हैं। इसके लिए ये व्यवस्था के अग्रमी बनना चाहते हैं और व्यवस्था के प्रति विद्रोह का बिगुल भी बजाना चाहते हैं। यह स्पष्ट रूप से राजनीति के माध्यम से अपने समाज और स्थितियों को नया रूप देने का सक्रिय प्रयास है।



राज भारद्वाज
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
भगिनी निवेदिता कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

मुख्य शब्द : अस्मितावादी, भारतीय समाज।

प्रस्तावना

साहित्य अपने समय का जीवन्त दस्तावेज होता है इसलिए समय के साथ-साथ समाज में राजनीति के प्रति आये बदलावों को साहित्य में देखा जा सकता है। इस प्रकार समाज और राजनीति का साहित्य के साथ दृढ़ संबंध है। वर्तमान संदर्भों में देखें तो आजादी के बाद की भारतीय राजनीति में गुणात्मक परिवर्तन आये हैं। आजादी भारतीय जनता के साझे संघर्ष का व्यापक परिणाम थी। लेकिन आजादी के बाद जो विकास की प्रक्रिया सम्पन्न हुई उसमें कुछ लोग तेजी से आगे बढ़ गये और बहुत से लोग पीछे छूट गये। ये वही हाशिये के लोग हैं जो आजादी के बाद भी लम्बे समय से राष्ट्र की परिधि पर हैं। आज हाशिये का यह समाज राजनीतिक सत्ता और विकास की प्रक्रिया में किसी भी तरह अपनी जगह बनाने के लिए संघर्षरत है। अब इन्हें उद्धारकर्ता नहीं चाहिए बल्कि सत्ता, संपत्ति और संवैधानिक हक चाहिए। अब चारों तरफ हाशिये का यह समाज अपनी अस्मिता व अधिकारों के प्रति संघर्षरत है।

अध्ययन का उद्देश्य

समकालीन परिदृश्य में आजादी के बाद दलित, आदिवासी, और स्त्री अस्मिता सम्बन्धी चिंतन अपने तीखे प्रश्नों के साथ सामाजिक राजनीतिक चिंतन के सम्मुख उठ खड़ा हुआ है। इस चिंतन का उद्देश्य साहित्य के माध्यम से समाज और राजनीति में इन अस्मिताओं की समानता और समभाव की स्थापना करना है।

स्वतंत्र भारत के लोकतान्त्रिक संविधान में विकास के रास्ते में पिछड़े लोगों के लिये आरक्षण की व्यवस्था की गयी थी ताकि सबका समुचित विकास हो सके और सबको न्याय मिल सके। लेकिन आज अनेक समुदाय सामाजिक पहचान व व्यक्तिगत पहचान के द्वन्द्व के बीच खड़े हैं। आज चारों तरफ ये समुदाय सामाजिक न्याय की नीति के तहत आरक्षण की माँग कर रहे हैं। अभी हाल ही में राजस्थान में गुर्जर-समुदाय ने और हरियणा में जाट समुदाय ने क्रमशः ST और OBC की पहचान के लिये आंदोलन किया। हालाँकि ये आन्दोलन किसान और मजदूरों के आर्थिक हितों से संबंधित आंदोलनों से भिन्न 'पहचान' से संबंधित आन्दोलन था। किसी हद तक इन आन्दोलनों के अगुवा सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन के उतने शिकार नहीं है। फिर भी सत्ता में भागीदारी पर कमजोर पड़ती इनकी पकड़ ने इन समुदायों में बैचेनी बढ़ायी है।

इसके परिणामस्वरूप इन आन्दोलनों में हिंसात्मक घटनाएँ हो रही हैं। आज वैश्वीकरण के इस दौर में हाशिये पर फेंक दी गई अस्मिताओं का बड़ा हिस्सा इन आंदोलनों में शामिल है। इन आंदोलनों के माध्यम से हाशिये के लोग अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हुए सामाजिक विषमता व भेदभाव के जंगल को कम करने का प्रयास कर रहे हैं। अशिक्षा, कुपोषण, पर्यावरण, जातीय खाइयों जैसे गंभीर मुद्दे हैं, जिन पर सरकार को तत्परता से सोचने की जरूरत है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के फायदे के लिये किसानों को विस्थापन का राजनीतिक मोहरा बनाया जा रहा है। इस प्रकार एक की सुविधा के लिये दूसरे की दुविधा को नरजअंदाज किया जा रहा है।

राजनीतिक सत्ताधारी और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने फायदे के लिये दमन के लाठी-गोली वाले सामंती रूप को अपना रही हैं जिससे राष्ट्र के सामने माओवाद नक्सलवाद जैसी समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। हिंसा के शिकार लोगों पर थोड़ी-सी चिंता व सहानुभूति व्यक्त कर दी जाती है। लेकिन आज सह-विकास के लिये आर्थिक व सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों, आदिवासी, मजदूर, किसानों को सुनने की जरूरत है। सचमुच ग्रामीण क्षेत्रों की उपेक्षा हुई है जिन पर आज ध्यान देने की जरूरत है। आज चारों तरफ राजनीतिक परिसर में असहमति और प्रतिवाद की आवाजों के दृश्य दिखाई देते हैं जो तृप्त व शांत नहीं हैं। ये आवाजें हाशिये के लोगों की आवाजें हैं जो उनकी पीड़ा को मुखर करती हैं। हाशिये के लोगों की पीड़ा भरी आवाज राजनीतिक इस्तेमाल की वस्तु बना ली जाती है जो शायद पहले कभी नहीं बनी थी। इस तरह पिछले कुछ समय से भारतीय राजनीति की घटनाओं ने आम लोगों के स्वप्नों को तोड़ा है। लोगों के मन में परिवर्तन की जो आशा व उम्मीद थी वह धूमिल हुई है। चारों तरफ 'ताकत' की पूजा होने लगी है। सत्ता पाने के लिये समाज की जगह समुदाय को राजनीतिक ताकत का स्रोत बना दिया जाता है। सबकी यही चिंता है कि अपना वर्चस्व कैसे कायम किया जाए। ऐसे में हाशिये की अस्मिता राजनैतिक रैलियों में सिर्फ गाड़ियों में लदा माल बना दी गयी है। इस प्रकार हाशिये के लोगों की पहचान राजनैतिक ताकत व वर्चस्व के आगे गौण हो गयी है।

हाशिए के लोग जिनकी भागीदारी अभी तक सत्ता और संवाद के दायरे से बाहर थी, वाहरू सोनवणे की कविता में उनकी अनुगूँज इस प्रकार सुनाई पड़ती है—

“हम स्टेज पर गए ही नहीं
और हमें बुलाया भी नहीं
ऊंगली के इशारे से
हमारी जगह
हमें दिखाई गई...
और 'वे' स्टेज पर खड़े हो
हमारा दुःख हमें ही बताते रहे
हमारा दुःख अपना ही रहा
कभी उनका हुआ ही नहीं।”¹

वैश्वीकरण ने भले ही दुनिया के देशों को राष्ट्रीयता के दायरे से बाहर निकालकर दूरियों को कम किया है, लेकिन फिर भी भारत के लोग अपनी राष्ट्रीय

पहचान को भूल कर सामुदायिक कुपमंडूकता की तरफ बढ़ रहे हैं, जिससे समाज में सामुदायिक द्वन्द्व बढ़ गये हैं। आज साम्प्रदायिकता भले ही कुछ कमजोर हुई है लेकिन क्षेत्रीयता, प्रांतीयता व जातिवाद की समस्या मजबूत हुई है। ऐसे में एक राज्य के लोग दूसरे राज्य के लोगों को 'आउट साइडर' के रूप में देखने लगते हैं। अस्मितावादी राजनीति करने वाली पार्टियाँ— दलित वोटों के सहारे सत्ता हासिल करने के लिए उन्हें जाति, धर्म, कौम, सम्प्रदाय, आरक्षण के नाम पर भ्रमित कर रही है। इस प्रकार हाशिये की अस्मिता का राजनीतिक फायदों के लिये इस्तेमाल करके संकीर्ण राजनीति की जा रही है। यह अस्मिताओं को टुकड़ों में बाँटने की राजनीतिक कोशिश है।

वैश्वीकरण ने दुनिया में अमीरी को बढ़ावा देकर बेरोजगारी को बढ़ाया है। इसने छोटे व्यवसायों को उजाड़ा है। भारत में लोग रोजगार की तलाश में शहरों की तरफ पलायन कर रहे हैं। शहरों और महानगरों में दूसरे राज्यों से आए लोगों को पराये के रूप में देखा जाता है। ऐसे में महानगरों में जातीयता, भाषाई, संस्कृति व धर्म का बिखराव मिलता है। इससे वहाँ लूट, अपराध व हिंसा को बढ़ावा मिलता है। इसी संदर्भ में प्रो. शंभुनाथ ने लिखा है कि “महाराष्ट्र और असम सहित देश के कई हिन्दीतर राज्यों में हिन्दी भाषियों के विरुद्ध स्थानीय हिंसा समय-समय पर व्यापक रूप धारण कर लेती है। यह अस्मिता की राजनीति का विकृत रूप है। हिन्दी क्षेत्र के लोगों को एक खास नाम दिया जाता है 'उत्तर भारतीय'।”² इसी संदर्भ में अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा है कि— “आज भारत की कई जातीयताओं, दलितों, आदिवासियों और जनजातीय क्षेत्र के लोगों के मन में राष्ट्रवादी केन्द्रीयता के प्रति जो क्षोभ है, वह स्वाभाविक है। यही वजह है कि धर्म का राजनीतिक जादू फेल कर गया हो, जाति भी उतनी राजनीतिक उत्तेजना पैदा न कर पा रही हो, पर क्षेत्रीयता को संबोधित किए बिना कोई राजनीतिक दल आज दो कदम नहीं चल पा रहा है।”³ इस तरह क्षेत्रीयता के नाम पर अस्मितावादी राजनीति का यह विकृत रूप राजनेताओं के लिए सत्ता हासिल करने का एक नया तरीका है।

पिछले दो दशकों से औद्योगिक विकास की राजनेताओं की इकहरी नीति ने जल, जंगल और जमीन के सवाल पर आदिवासियों को आज एक नये रूप में सामने लाकर खड़ा कर दिया है। आदिवासी समुदाय विकास की इस नीति पर अनेक तरह के सवाल उठा रहा है। वह आज मुठभेड़ तक करने को तत्पर है। आज विस्थापन की समस्या उनके लिये बड़ी समस्या बन गयी है। उन्हें औद्योगिक विकास के लिए उनकी जमीनों से खदेड़ा जा रहा है। गंगासहाय मीणा के अनुसार— “विकास के नाम पर अपने पैतृक क्षेत्रों से बेदखल किए गए ये लोग जाएँ तो कहाँ जाएँ? सरकार के पास इनके पुनर्वास की कोई योजना नहीं है... बाजार और सत्ता के गठजोड़ ने आदिवासियों के सामने अस्तित्व की चुनौती खड़ी कर दी है।”⁴ अपने जल, जंगल, जमीन से निकाले जाने के कारण आदिवासी समुदाय अशांत है जिससे सामाजिक व राजनीतिक तनाव बढ़ता जा रहा है।

दरअसल आदिवासियों का असंतोष स्वाभाविक है। ये लोग अंग्रेजी राज में हाशिये पर थे, उपेक्षित थे, समझ में आता है लेकिन आज स्वाधीन भारत में भी इनके क्षेत्रों में विकास की तरफ ध्यान देरी से जाना समझ से बाहर है। आज हम देख रहे हैं बहुराष्ट्रीय कंपनियों राजनेताओं की सहायता से विकास के नाम पर जंगलों का नाश कर रही हैं। ये कंपनियों विकास के नाम पर धातुओं और वनस्पतियों को लूट कर पृथ्वी को खोखला कर रही हैं। हाशिये के इस समाज को औद्योगिक विकास के नाम पर अपनी जगह से खदेड़ा जा रहा है। बड़े-बड़े उद्योग स्थापित करते समय इन लोगों से बड़े-बड़े वायदे किये जाते हैं, लेकिन उद्योग स्थापित होने के बाद उनकी लोक संस्कृति व पर्यावरण की चिंता नहीं की जाती है। कोई यह तक देखने नहीं जाता कि विस्थापित होने के बाद ये लोग जिन नयी जगहों पर बसे हैं वहाँ वे कितने अनिश्चित व टूटे हुए हैं। उद्योग स्थापित होने के बाद हाशिये के इस समाज को विकास के मंचों पर प्रदर्शन की वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और तब सरकार द्वारा बताया जाता है कि आज भी भूमण्डलीकरण के इस दौर में हमने प्राचीन परम्पराओं को किस तरह सहेज कर रखा है। सरकारी योजनाओं के कारण विस्थापित हुए लोगों (आदिवासियों) की त्रासदी को 'सोन पहाड़ी' उपन्यास में मुंडा के माध्यम से व्यक्त किया है— "जो लोग चल गया अभी मारे-मारे फिरे हैं। खेती-बारी छोड़कर ईटा भाठा में मजदूरी करो, कुली-कबाड़ी करो— हम लोग तो भगोड़ा हो गया है भगोड़ा।"⁵

आज हम देख रहे हैं कि सरकार द्वारा लागू भूमि सुधार, पंचायती व्यवस्था, रोजगार गारंटी योजना, सर्वशिक्षा अभियान व स्वास्थ्य संबंधी अनेक अच्छी योजनाओं के बावजूद भी हाशिये के लोग आज भी पिछड़े हुए हैं। आज बड़े शहर आधुनिक से आधुनिकतम होते जा रहे हैं और गाँव पिछड़ते जा रहे हैं। 'पलास के फूल' उपन्यास में 'मनरेगा' जैसी सरकारी योजनाओं के सच को उजागर किया है। उपन्यास में आदिवासी बुजुर्ग कहता है— "आधा मजदूरी देता है, पूरे पगार पर ठप्पा लगवाता है। पूरा काम लेता है, औभर टैम भी करवाता है। अपने लोगों को काम पर लगाता, हमको छोड़ देता है।"⁶ दरअसल इन योजनाओं को गाँवों में ईमानदारी से लागू करवाना कठिन कार्य है क्योंकि इसमें पारदर्शिता, कार्य-कुशलता व जवाबदेही का कहीं नामोनिशान तक नहीं है। गाँवों में स्वास्थ्य केन्द्र होकर भी चिकित्सा नहीं है। विद्यालय होकर भी शिक्षा नहीं है। महामारी, सूखा व बाढ़ जैसी समस्याएँ आज भी हैं। इन योजनाओं का आधा पैसा राजनेता, नौकरशाह व बिचौलिये गटक जाते हैं। अंग्रेजी राज में अत्याचार होता था समझ में आता है, लेकिन आज भी विकास के दरोगा राजनेताओं की सहायता से योजनाओं का लाभ गाँवों तक नहीं पहुँचने देते।

आजादी के बाद लोकतांत्रिक व्यवस्था ने अपने अस्तित्व और संवैधानिक अधिकारों वंचित वर्ग को पग-पग पर निराश किया है। खोखली राजनीति और स्वार्थ सिद्धि के चलते इनके प्रतिनिधि संसद व विधानसभाओं में न तो इनके हितों में खास रुचि लेते हैं और न ही इनकी

समस्याओं की वकालत करते नजर आते हैं। इसलिए जरूरी है संवैधानिक व मानवाधिकारों से वंचित इन लोगों की राजनीति व सत्ता में भागीदारी न सिर्फ निश्चित हो, बल्कि यह भी जरूरी है कि सत्ता में पहुँचने वाले इनके प्रतिनिधि इन लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार व अन्य सुविधाओं की जरूरत को गहराई से समझकर उनके समाधान के प्रति सक्रिय व सजग भी हो तभी इन लोगों का भला हो सकता है।

सदियों से उपेक्षित, उत्पीड़ित व अपमानित इन अस्मिताओं (स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक) को भी आत्मसम्मान के साथ जीने का हक है। इनकी भी दुःखभरी जिंदगी में बदलाव जरूरी है। इसलिए राजनीति और सत्ता में भागीदारी के साथ सरकारी सुविधाएँ भी इन तक पहुँचानी होंगी जिससे इनकी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति में बदलाव आ सके। दलित महानायकों की मूर्तियाँ लगवाने व उनके नाम पर पार्क बनवाने से दलितों का उत्थान संभव नहीं है। बल्कि इसके लिए विकास के ठोस रचनात्मक कार्य करने होंगे। पंचायत से लेकर संसद तक राजनीति और सत्ता में महिलाओं की भागीदारी न के बराबर है। वर्तमान लोकसभा में महिलाओं का प्रतिनिधित्व महज 11 प्रतिशत है। आजादी के बाद महिलाओं की भागीदारी के ये आँकड़े हैरान करने वाले हैं। महिलाओं के नाम पर महिला संगठन और शिक्षा-प्रशिक्षण के कार्यक्रमों से ही इनकी स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए लोगों की महिलाओं के प्रति मानसिकता में बदलाव लाना जरूरी है।

निष्कर्ष

पंचायत से लेकर संसद तक दुनिया की इस आधी आबादी की भागीदारी जरूरी है ताकि ये भी विकास की प्रक्रिया में शामिल हो सकें। आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, महामारी, बाढ़, सूखा आदि समस्याएँ आज भी हैं, सरकार को इनकी तरफ ध्यान देने की जरूरत है जिससे ये लोग भी विकास की परम्परा से जुड़ सकें, और देश की प्रगति में अपना योगदान दे सकें। यहाँ यह भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि इन उपेक्षित वर्गों को जो लाभप्रद-योजनाओं से फायदा होना चाहिए था, वह कुछ ही जातियों, वर्गों, समुदायों तक ही सिमट कर न रह जाए। बल्कि वह उस आखिरी व्यक्ति तक पहुँचे जो दूर-दराज गाँव में रहता है और अपने अधिकारों के प्रति भी अधिक जागरूक नहीं है। यह किसी से छिनकर दूसरों को देने का आंदोलन नहीं है, बल्कि अपनी पूर्णता में समाज और राष्ट्र के सम्मुख नए राष्ट्रीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास है जहाँ समानता-समभाव चिंतन के केन्द्र में रहता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वाहरु सोनवणे (स्टेज), अनुवाद कंचन जटकर, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी: सं.-रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, सं.-2008, पृष्ठ 101
2. भारतीय अस्मिता और हिन्दी- शंभुनाथ, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, सं.-2012, पृष्ठ 217
3. वही, पृष्ठ 217

4. आदिवासी साहित्य विमर्श: गंगासहाय मीणा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, सं-2014, पृष्ठ 08

5. सोन पहाड़ी: पीटर पॉल एक्का, भारती पब्लिकेशन, राँची, सं.-1984, पृष्ठ 89

6. पलास के फूल-पीटर पॉल एक्का, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, सं.-2012, पृष्ठ 01